किसका संविधान? कैसा संविधान?

• शिशिर

हाल ही में भारतीय संविधान के निर्माण और उसके लागू होने के 60 वर्ष पूरे हुए। देश के शासक वर्ग और सत्ता ने इस मौक़े पर काफ़ी जश्न मनाया। देशभक्ति और राष्ट्रभक्ति के बाज़ार को एक बार फिर से गर्माने का मौक़ा था। संविधान और उसके निर्माताओं के बारे में हर मंच से प्रशस्ति-पत्र पढ़े गये। हमें बताया गया कि हमारे देश के संविधान-निर्माता सबसे ज्ञानी थे और उन्होंने अन्य देशों के संविधान की सभी सकारात्मक चीज़ों को अपना लिया और नकारात्मक चीज़ों को छोड़ दिया! इसीलिए तो हमारा संविधान सर्वश्रेष्ठ है और दुनिया के 'सबसे बड़े जनतन्त्र' का संविधान होना भी ऐसा ही चाहिए! महानतम! देश का खाता-पीता मध्यवर्ग भी इस जश्न में बाख़ुशी शामिल हुआ। खाये-अघाये लोगों की कॉलोनियों में छतों-मुण्डेरों पर तिरंगा लहराने लगा! स्कूलों में भी तिरंगे लहराये और बच्चों को तर्जनी उठाकर देश के संविधान और जनतन्त्र पर गर्व करना सिखाया गया।

लेकिन सवाल यह है कि इस देश का संविधान कितना जनतांत्रिक है? यह इस देश के नागरिकों को क्या देता है? इसे बनाने में इस देश की बहुसंख्यक आबादी की क्या भूमिका रही? इसके मूलभूत सिद्धान्त क्या वाक़ई इस देश के नागरिकों को जनवादी अधिकार देते हैं? इसका उद्भव और विकास कैसे हुआ है? इसके लिए हमें जानना होगा कि इस संविधान के निर्माण और निर्माताओं का इतिहास क्या है और उसके निर्माण की प्रक्रिया जनतांत्रिक है या नहीं।

संविधान का जन्म और विकास: मूल से ही ग़ैर-जनतांत्रिक और निरंकुश!

कम लोग ही इस तथ्य से परिचित हैं कि आज भारत के नागरिकों के लिए जो संविधान सम्मान्य और बाध्यकारी है उसे बनाने वाली संविधान सभा को चुनने का काम इस देश के नागरिकों ने सार्विक मताधिकार के आधार पर नहीं किया था बल्कि मात्र 11.5 प्रतिशत लोगों ने किया था। इन लोगों को सम्पत्ति का स्वामी होने के आधार पर चुना गया था। बताने की आवश्यकता नहीं है कि 1946 में पूँजीपतियों, ज़मीन्दारों, रियासतों के राजाओं और राजकुमारों के अतिरिक्त चन्द कुलीन ही सम्पत्तिधारी होने के पैमाने पर खरे उतरते थे। 16 मई 1946 को ब्रिटिश वाइसरॉय वेवेल ने संविधान सभा बुलायी। इस संविधान सभा का चुनाव वयस्क सार्वभौमिक मताधिकार के आधार पर नहीं किया गया था बल्कि 1935 के 'गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट' के आधार पर चुनी गयी प्रान्तीय विधानसभाओं (लेजिस्लेटिव कौंसिल्स) को ही अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करके भेजने को कह दिया गया, जिसके आधार पर संविधान सभा का निर्माण होना था। इतिहास से परिचित सभी लोग जानते हैं कि इन विधानसभाओं का चुनाव 11.5 प्रतिशत मतदाताओं के आधार पर हुआ था जिनमें महज़ सम्पत्तिधारी वर्ग शामिल थे। इनमें मज़दूरों, किसानों, निम्न-मध्यम वर्गों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। चुने हुए प्रतिनिधियों के अतिरिक्त रियासतों-रजवाड़ों के कुछ प्रतिनिधियों और अभिजन समाज के कुछ प्रतिनिधियों को भी संविधान सभा में कोऑप्ट कर लिया गया था। ज़ाहिर है कि वे आमजन के चुने हुए प्रतिनिधि नहीं बल्कि मुट्ठीभर धनिकों के टट्टू थे। नवम्बर 1946 में कांग्रेस के मेरठ सत्र में नेहरू ने वायदा किया कि आज़ादी मिलने के बाद नयी संविधान सभा बुलायी जाएगी जिसे सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के आधार पर चुना जाएगा। इसके बाद भी नेहरू ने कई बार यह वायदा दुहराया था। लेकिन यह वायदा कभी पूरा नहीं हुआ। ठीक उसी प्रकार जैसे और तमाम लुभावने समाजवादी और जनवादी वायदे भी नेहरू ने पूरे नहीं किये।

इस ग़ैर-जनवादी और निरंकुश ढंग से बनी संविधान सभा ने जो संविधान बनाया वह औपनिवेशिक 'गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट, 1935' का ही सच्चा वारिस था। यही कारण था कि इसकी 395 धाराओं में से 250 धाराएँ या तो शब्दशः उसी ऐक्ट से उठायी गयीं या फिर मामूली संशोधनों के साथ अपना ली गयीं। इसके अलावा उसके बुनियादी सिद्धान्त ज्यों के त्यों क़ायम रखे गये। जैसा कि हम जानते हैं, 'गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट, 1935' देशभर में जनता के ब्रिटिश राज के विरुद्ध बढ़ते असन्तोष पर पानी के छींटे मारने के लिए लाया गया ऐक्ट था। इसके दो प्रमुख लक्ष्य थे। एक, भारत के उभरते हुए और धीरे-धीरे अपनी ताक़त बढ़ाते पूँजीपति वर्ग को सत्ता में नाममात्र की साझेदारी देना। दो, आज़ादी की चाह और ब्रिटिश शासन के ख़िलाफ़ नफ़रत रखने वाली भारत की जनता के गुस्से पर ठण्डे पानी के छींटे मारना। इसका काम एक 'सेफ़्टी वॉल्व' का अधिक था और वास्तव में जनवादी अधिकार देने का कम। यही कारण था कि इस ऐक्ट के तहत हुए प्रान्तीय चुनावों में मताधिकार को सम्पत्तिधारी वर्गों से आगे विस्तारित नहीं किया गया। भारत के देशी शासक वर्गों को तो कुछ मिला लेकिन जनता को कुछ भी नहीं। इसे एक प्रतीकात्मक विजय भी मुश्किल से ही कहा जा सकता था।

बहुत ही ताज्जुब की बात है कि भारत में जनवाद और नागरिक अधिकारों की बात करने वाले एक से एक विश्व-प्रसिद्ध न्यायविद्, जनवादी अधिकार विशेषज्ञ, वक़ील, पत्रकार हुए, लेकिन बिरले ही कोई ऐसा रहा जिसने भारतीय संविधान के ग़ैर-जनवादी उद्भव पर सवाल खड़ा किया हो और नयी संविधान सभा की बात की हो। कोई चुनावी पार्टी इस मुद्दे पर कोई सवाल नहीं उठाती है। कांग्रेस नयी संविधान सभा के वायदे से मुकर गयी, जो कि स्वाभाविक ही था। भारत का तत्कालीन कम्युनिस्ट आन्दोलन किसी एकीकृत नेतृत्व, एकीकृत योजना और कार्यक्रम की समझदारी के अभाव में इस बेहद महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर अनिर्णय की स्थिति में पड़ा रह गया। भारत की अविभाजित कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में कई जुझारू आन्दोलन हुए, जैसे कि तेलंगाना-तेभागा, पुनप्रा-वायलार के किसान आन्दोलन। लेकिन इन सभी आन्दोलनों को भी निश्चित कार्यक्रम के अभाव में और दिशाहीनता की स्थिति में पराजय का सामना करना पड़ा। साथ ही, नौसेना विद्रोह और ब्रिटिश रॉयल वायुसेना में भी कई जगह विद्रोह 1946 के उथल-पुथल भरे साल में ही फूट पड़े थे, लेकिन उनको भी संगठित करने और अन्य संघर्षों से जोड़कर एक देशव्यापी आन्दोलन की शक्ल देने की कोई समझदारी उस समय की कम्युनिस्ट पार्टी के पास नहीं थी। नतीजतन, तमाम क़ुर्बानियों और बहादुरी की अद्वितीय मिसालों के बावजूद ये संघर्ष अन्धी गली में जाकर ख़त्म हुए और भारत का मज़दूर वर्ग सक्षम नेतृत्व के अभाव में एक बहुत बड़े ऐतिहासिक मौक़े से हाथ धो बैठा। इन संघर्षों की पराजय के बाद की निराशा और दिशाहीनता के ही माहौल में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने संशोधनवाद का रास्ता पकड़ा और 1951 में भारतीय पूँजीवाद से समझौता कर लिया। पार्टी ने संसदीय रास्ता अख़्तियार कर लिया। इसके बाद 1952 में पहला आम चुनाव हुआ। उसके बाद भी किसी पार्टी ने नयी संविधान सभा बुलाने की माँग नहीं रखी। किसी भी बुर्जुआ पार्टी द्वारा नयी संविधान सभा की माँग पर बल न देना स्वाभाविक ही था, क्योंकि अपने वर्ग चरित्र के हिसाब से वे भी उसी कटे-फटे, अतिसीमित और पाखण्डी बुर्जुआ जनवाद के पक्षधर थे जिसकी आधरशिला भारतीय संविधान ने रखी थी। जनवाद की चौहद्दी को स्वीकारने के बाद कम्युनिस्ट पार्टी से भी यह अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। जिस निकाय को भारत की पहली संविधान सभा का दर्जा प्राप्त होना चाहिए था वही भारत की पहली संसद बन गया। इसके बाद, 1964 में अस्तित्त्व में आयी भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) ने भी नयी संविधान सभा का मुद्दा कभी नहीं उठाया। ज़ाहिर है, उसे भी संसदवाद के कीचड़कुण्ड में ही डुबकी लगानी थी। पिछले 46 वर्षों के इतिहास ने किसी भी सन्देह से परे इस बात को साबित कर दिया है। उसके बाद एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन भी 1960 के दशक के अन्त में अस्तित्त्व में आया, लेकिन उसके एजेण्डे पर भी यह सवाल नहीं आया। नक्सलबाड़ी का किसान उभार एक सही शुरुआत के बाद वामपन्थी दुस्साहसवाद के गर्त में जा गिरा। उसके बड़े हिस्से ने माओ की क्रान्तिकारी जनदिशा को छोड़कर क्रान्तिकारी आतंकवाद की लाइन को अपनाया। अब इसे इतिहास की एक विडम्बना ही कहा जा सकता है कि इसके बावजूद इस लाइन को लागू करने वालों को इनदिनों "माओवादी" कहा जाता है।

अधिकार देने से ज़्यादा अधिकार छीनने के प्रावधानों से भरा है हमारा संविधान

नयी संविधान सभा का प्रश्न और कई प्रश्नों से जुड़ा हुआ है। भारतीय संविधान के भीतर जितनी धाराएँ जनवादी नागरिक अधिकारों को मुहैया कराती हैं उससे अधिक धाराएँ "आपात" स्थितियों में उन्हें रद्द करने के लिए हैं। जब इन धाराओं से भी मन नहीं भरता तो उसमें नये संशोधन करने के प्रावधान भी संविधान के भीतर ही मौजूद हैं। यही कारण है कि पिछले 60 वर्षों में इसमें क़रीब 90 संशोधन किये जा चुके हैं। यानी, हर वर्ष डेढ़ संशोधन! भारतीय संविधान स्वयं हर जनवादी अधिकार को रद्द या निलम्बित करने का अधिकार राज्य को देता है। जब तक आप पूँजीपति वर्ग के अधिनायकत्व के नीचे दबकर रहते हैं, आप एक आदर्श नागरिक माने जाते हैं। जैसे ही आप दमन, शोषण और तानाशाही के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाते हैं वैसे ही आप राज्य के शत्रु हो जाते हैं। और राज्य अपने शत्रुओं के साथ निर्ममता और बर्बरता को क़ानूनी रूप देने का काम संविधान के ज़रिये ही करता है। जब भी पूँजीवादी जनतन्त्र (तानाशाही) के लिए संकट की स्थितियाँ पैदा होती हैं तो राज्यसत्ता आपातकाल को बिना प्रत्यक्ष सैनिक तानाशाही क़ायम किये लागू कर देती है! यह है भारत का अनोखा जनतन्त्र! 1975 में भी जब आपातकाल लागू किया गया था तो इन्दिरा गाँधी ने न तो सेना को सत्ता सौंपी, न ही दमन के लिए सेना का इस्तेमाल किया गया। अर्द्धसैनिक बलों की विशाल बर्बर मशीनरी के ज़रिए दमनतन्त्र चलाया गया। ध्यान रहे कि आपातकाल संविधान को ताक पर रखकर नहीं बल्कि उसी के तहत (महज़ एक संशोधन, 42वाँ संशोधन, करके और ऐसे संशोधन का भी संविधान में प्रावधान था) लागू किया गया। ज़ाहिर है कि संविधान ने शासक वर्गों की सहूलियतों का पूरा ख़याल रखा है।

बात बहुत साफ़ है और सीधी-सादी है। यह जनता के बुनियादी जनवादी अधिकारों की एक बुनियादी माँग है कि सार्विक मताधिकार के आधर पर एक नयी संविधान सभा की माँग पुरज़ोर तरीक़े से उठायी जाये, जिसके प्लेटफ़ॉर्म पर जनता को वास्तविक जनवादी और नागरिक अधिकार देने वाले ऐसे संविधान के निर्माण के लिए संघर्ष चलाया जाये, जो औपनिवेशिक विरासत के अभिशाप से मुक्त हो। यही नहीं, इस मुद्दे को भी पुरज़ोर तरीक़े से उठाया जाना चाहिए कि उसी नयी संविधान सभा को आई.पी.सी., सीआर.पी.सी., जेल मैनुअल, पुलिस मैनुअल, सम्पत्ति के अधिकार विषयक क़ानून, तमाम नागरिक क़ानूनों सहित उस पूरी क़ानून-व्यवस्था को आमूलगामी ढंग से बदल देना होगा, जो लगभग पूरी तरह से वही है जैसा अंग्रेज़ों के शासनकाल के दौरान था। यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि संविधान हमें जो भी अतिसीमित नागरिक एवं जनवादी अधिकार देता है,

वह क़ानून व्यवस्था के मकड़जाल में उलझकर रह जाता है और आम नागरिक को कुछ नहीं मिलता। रोज़-रोज़ नीचे की अदालतों में आम नागरिक 'लीगल रेमेडी' के लिए दर-दर की ठोकरें खाता, औपनिवेशिक क़ानूनों और न्यायिक ढाँचे में पिसता रहता है। जो सीमित 'कांस्टीट्यूशनल रेमेडी' उपलब्ध हैं, उनतक प्रबुद्ध खाते-पीते मध्यवर्गीय नागरिकों में से कुछ पहुँच पाते हैं जो उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय के संवैधानिक बेंचों तक किसी मुद्दे को लेकर पहुँच सकते हैं। तात्पर्य यह कि संविधान प्रदत्त जनवाद नब्बे प्रतिशत लफ्फाजी और दिखावा है। जो दस प्रतिशत बुर्जुआ जनवाद वहाँ से छनकर बाहर आता है, उसका भी 8 प्रतिशत भाग क़ानून व्यवस्था में अटक जाता है। 2 प्रतिशत आम जनों तक पहुँचता है। आम नागरिक के लिए जनवाद का मुख्य मतलब हर पाँच साल बाद नागनाथ या साँपनाथ में से किसी एक के चुनावचिह्न पर ठप्पा मारना मात्र रह जाता है। आज जनता के पास यदि कोई नागरिक और जनवादी अधिकार है, तो वह संविधान की नहीं, बल्कि जनता के संघर्षों और आन्दोलनों की देन है।

> बहुत ही ताज्जुब की बात है कि भारत में जनवाद और नागरिक अधिकारों की बात करने वाले एक से एक विश्व-प्रसिद्ध न्यायविद्, जनवादी अधिकार विशेषज्ञ, वक़ील, पत्रकार हुए, लेकिन बिरले ही कोई ऐसा रहा जिसने भारतीय संविधान के ग़ैर-जनवादी उद्भव पर सवाल खड़ा किया हो और नयी संविधान सभा की बात की हो। कोई चुनावी पार्टी इस मुद्दे पर कोई सवाल नहीं उठाती है। कांग्रेस नयी संविधान सभा के वायदे से मुकर गयी, जो कि स्वाभाविक ही था।

एक और बात पर काफ़ी ताज्जुब होता है। इस देश के बहुतेरे वामपन्थी बुद्धिजीवी और रैडिकल विचार रखने वाले लोग भी संविधान निर्माता डॉ. बी. आर. अम्बेडकर की विद्वत्ता पर मन्त्रमुग्ध रहते हैं। विद्वत्ता तो निश्चित रूप से थी। लेकिन उस विद्वत्ता का चरित्र क्या था? अम्बेडकर निश्चित रूप से यह समझने के लिए पर्याप्त जानकार और विद्वान थे कि यह संविधान अपने मूल से ही निरंकुश और ग़ैर-जनवादी साबित होने जा रहा है। वास्तव में यह जनता को समस्त जनवादी अधिकार नहीं देता है और जो देता है उसे भी छीन लेने की के प्रावधान स्वयं अपने ही भीतर छुपाये रखता है। ऐसा मानना मासूमियत होगी कि अम्बेडकर इस बात को समझ न पाये हों या इससे अनजान रहे हों। उनकी पक्षधरता साफ़ थी। यह संविधान इस देश के दलितों, आदिवासियों, स्त्रियों और उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं को भी सिर्फ़ नाममात्र के अधिकार देता है। और अगर कार्यकारी निकाय उनका सम्मान नहीं करे तो इससे किसी की सेहत पर कोई ख़ास असर नहीं पड़ता है। ऐसे में कोई भी जनपक्षधर बुद्धिजीवी संविधान-निर्माण में अम्बेडकर की भूमिका का ऐसा ग़ैर-आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकता है, यह वाक़ई आश्चर्य पैदा करता है।

इन सभी कारकों के मद्देनज़र संविधान के 60 वर्ष पूरे होने पर भारत के पूँजीपति वर्ग, उच्च मध्यम वर्ग का हर्षातिरेक तो समझ में आता है, लेकिन आम घरों से आने वाले बेटे-बेटियाँ किस बात का जश्न मनायें? इस देश का तबाह-बर्बाद मेहनतकश किस बात की ख़ुशी मनाए? इस देश की औरतें, दलित, आदिवादी और दमित राष्ट्रीयताएँ किस बात का जश्न मनायें? यह जिनका संविधान है वे जश्न मना रहे हैं। कश्मीर से लेकर उत्तर-पूर्व के राज्यों, छत्तीसगढ़, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल में जनता के साथ पुलिस और सशस्त्र बल जो पाशविक सुलूक कर रहे हैं उसके प्रावधान इसी संविधान में मौजूद हैं। देश की अखण्डता और सुरक्षा के नाम पर देश की जनता को ही मारा जा रहा है, जेलों में ठूँसा जा रहा है और उनका निर्मम और बर्बर दमन किया जा रहा है। क्योंकि इस संविधान में देश की अखण्डता का अर्थ है देश के मुनाफ़ाख़ोरों की मुनाफ़े की मशीनरी की अखण्डता और देश की सुरक्षा का अर्थ है देश के पूँजीपतियों और उनकी व्यवस्था की इस देश की तबाह-बर्बाद अवाम की नफ़रत से सुरक्षा! हमारा सच्चा संविधान वह होगा जो इस देश की बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी को जीवन, आजीविका, रोज़गार, और बुनियादी आवश्यकताओं की रक्षा करे। इसलिए नयी संविधान सभा का नारा इतिहास का एक छूटा हुआ कार्यभार है और इसे पूरा करना किसी भी क्रान्तिकारी आन्दोलन के एजेण्डे पर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। आज इस मामले में नेपाल भी हमसे आगे निकल चुका है। नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) के नेतृत्व में कई वर्षों से चल रहे आन्दोलन के नतीजे के तौर पर कम से कम वहाँ की जनता ने नयी संविधान सभा का अधिकार हासिल किया, भले ही आज वहाँ का क्रान्तिकारी आन्दोलन एक दोराहे पर खड़ा हो। नयी संविधान सभा मई 2010 तक नये संविधान को लाने की बात कह रही है। इसके आगे नेपाल के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन को एक सही दिशा में आगे ले जायेंगे और आन्दोलन के समक्ष मौजूद वर्तमान समस्याओं और दुविधाओं का समाधान करेंगे, हम यह उम्मीद करते हैं। लेकिन राजशाही के उन्मूलन के साथ सार्विक मताधिकार के आधार पर चुनी गयी नयी संविधान सभा की स्थापना निश्चित रूप से इस आन्दोलन की शानदार जीत थी। लेकिन "दुनिया के सबसे बड़े जनतन्त्र" भारत का जनतन्त्र कितना पाखण्डपूर्ण और छद्म है, यह उसके संविधान के निर्माण और अब तक के विकास के मूल्यांकन से ही साफ़ हो जाता है। भारत में आज़ादी के बाद अस्तित्त्व में आये रुग्ण, बौने और विकलांग पूँजीवाद से ऐसे जनतन्त्र की ही अपेक्षा की जा सकती थी। निश्चित रूप से भारत के पूँजीवाद-विरोधी साम्राज्यवाद-विरोधी क्रान्तिकारी आन्दोलन का एक केन्द्रीय नारा यह भी होगा: **नयी संविधान सभा बुलाओ!**

●